सत्कार्यवाद की सांख्यीय अवधारणा : एक अनुचिंतन

शोध छात्र
नवल किशोर
विश्वविद्यालय दर्शनशास्त्र विभाग,
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय,
मुजफ्फरपुर

सांख्य शब्द् का अर्थ 'सम्यक् ख्याति', सम्यक् ज्ञान, सत्य ज्ञान है। सांख्य का यह सम्यक् ज्ञान व्यक्ताव्यक्त रूप द्विविध अचित् तत्त्व से पुरूष रूप चित् तत्त्व को पृथक् जान लेने में निहित है। ऊपर से प्रपंचासक्त दिखाई पड़ने वाला पुरूष वस्तुतः अनासक्त या निर्लिप्त रहता है जिसे कारिकाकार ईश्वरकृष्ण एवं सांख्यतत्त्वकौमुदीकार वाचस्पति मिश्र ने सत्त्वपुरूषान्यता ख्याति, विवेक–ख्याति, व्यक्ताव्यक्त–विज्ञान, विवेक ज्ञान आदि नामों से व्यवहृत किया है। इसी विवेक–ज्ञान से वे परम पुरूषार्थ अर्थात् मानव–जीवन के परम लक्ष्य 'मोक्ष' की सिद्धि मानते हैं। इस प्रकार 'संख्या' शब्द सांख्य की सबसे बड़ी दार्शनिक खोज का वास्तविक स्वरूप प्रकट करने वाला संक्षिप्ततम् नाम है जिसके सर्वप्रथम तथा सर्वप्रबल व्याख्याता होने से वह अत्यन्त प्राचीन काल में 'सांख्य' नाम से अभिहित हुआ और ऐसा होना सर्वथा ठीक ही था।

प्रस्तुत शोध–पत्र का विषय ''सत्यकार्यवाद की सांख्यीय अवधारणा : एक अनुचिंतन'' है। शोध विषय के आधार पर सृष्टि–सिद्धान्त अद्यावत् व्याख्याओं का प्रमाणित विश्लेषण, आलोचना एवं अनुशीलन कर एक नये–विचार की स्थापना करना इसका लक्ष्य है। शोध–प्रविधि की मांग एवं अध्ययन की सीमा को ध्यान में रखकर केन्द्रीय विषय को सांख्यीय

परिधि तक ही सीमित रखा गया है। अध्ययन का सहायक विषय कार्यकारणवाद को अध्ययन के सहायक के रूप में रखा गया है। वस्तुतः सृष्टि–सिद्धान्त की कार्यकारण मुखेन व्याख्या करने का प्रयोजन यह है कि वर्तमान समय में भौतिकशास्त्र की प्रयोगशाला में 'स्रष्टा–कण' की खोज की गयी, जो विज्ञान–जगत् की सबसे बड़ी घटना एवं खोज है। यह कण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का स्रष्टा है। भौतिकशास्त्र की इस व्याख्या से सांख्य के सृष्टि–प्रक्रिया को समर्थन मिलता है। इसका सबल आधार है–सांख्य का सत्कार्यवाद।[1]

भारतीय दार्शनिक परम्परा में सृष्टि प्रक्रिया की व्याख्या अत्यंत विवादास्पद एवं गहन समस्याओं से आवृत्त रही है। जिस गवेषणात्मकता के साथ इस समस्या पर भारतीय दार्शनिकों ने विचार किया है यही सिद्ध करता है कि समस्या पर भारतीय दार्शनिकों ने विचार किया है यही सिद्ध करता है कि समस्या कितनी गंभीर है। भारतीय दर्शन का कोई भी दार्शनिक सृष्टि–सिद्धान्त की व्याख्या एकमत होकर नहीं करता। इसका मूल कारण है सभी दार्शनिक अपने–अपने तत्त्वमीमांसीय संरचनाओं के अनुसार सृष्टि सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं और तदनुसार कार्यकारण की खोज करते है।[2] सांख्य अपने सृष्टि सिद्धान्त की व्याख्या प्रकृति परिणामवाद के अनुसार करता है एवं इसके लिए सत्यकार्यवाद को स्वीकार करता है, किन्तु व्याख्या के इस क्रम में उसे प्रकृति–पुरूष–संयोग' संबंधी गहन समस्या का भी सामना करना पड़ता है। जब तक प्रकृति–पुरूष–संयोग की समस्या का पूर्णतया निराकरण नहीं कर लिया जाता तब–तब सृष्टि संबंधी समस्या का समाधान सम्भव नहीं। एतदर्थ, प्रस्तुत प्रस्तावित शोध–प्रबन्ध में उपर्युक्त समस्याओं के निराकरण के

लिए प्रमाण–पुष्ट सूत्र खोजने का प्रयास किया गया जिससे जीवन एवं जगत् के प्रच्छन्न रहस्यों का प्रकाशन संभव हो सके।

सृष्टि–सिद्धान्त केवल आध्यात्मिक गवेषणाओं में ही सहायक नहीं है अपितु वर्तमान वैज्ञानिक युग के समस्त विकास एवं उत्थान का सबल आधार है। आज विज्ञान की विविध शाखाओं में जो विकास दिखायी दे रहा है, वह निर्द्वन्द रूप से दार्शनिकों द्वारा सृष्टि–सिद्धान्त संबंधी विविध विश्लेषणों, गवेषणाओं एवं चिन्तनों का अनुपम परिणाम है। इसी सिद्धान्त के आधार पर भौतिकशास्त्र देशकालावच्छिन्न व्यावहारिक वस्तु की उत्पत्ति, विकास एवं स्वरूप का निर्धारण करता है जबकि दर्शन इसी सिद्धान्त के आधार पर जगत्–सामान्य के कारण के रूप में जगत्–स्रष्टा की खोज करता है।

सृष्टि–स्रष्टा की सतत् खोज ने ब्रह्माण्ड के अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया है, जिससे आज सम्पूर्ण मानवता अभिभूत हैं सम्प्रति, कुछ वर्ष पूर्व ही भौतिकशास्त्र ने खोज के इस क्रम में गॉड–पार्टिक्ल (स्रष्टा–कण) की खोज की है। इससे सृष्टि–सिद्धान्त के अध्ययन का औचित्य एवं श्लाघनीयता स्वयं ही सिद्ध होती है।

सांख्य दर्शन ने प्रकृति के विविध गुणों की व्याख्या के द्वारा जड़ जगत् की उत्पत्ति की व्याख्या जिस प्रकार से की है, वह पूर्णतया वैज्ञानिक एवं प्रमाण–पुरस्सर है। सांख्य का स्पष्ट मानना है कि सृष्टि जड़ है। अतः इसका स्रष्टा चेतन न होकर जड़ ही होगा और वह है–प्रकृति के विविध गुण–सत्त्व, रजस् एवं तमस्। ये तीनों तीन अलग–अलग न होकर अपितु

अपृथक्भूत तत्त्व हैं और सृष्टि के मूलभूत एवं अन्तिम कारण हैं। वस्तुतः परमतत्त्व के ज्ञान में व्यावहारिक ज्ञान कोई विरोध उपस्थित नहीं करता, प्रत्युत उसका सहायक हो जाता है। जीवन के परम लक्ष्य को समझ कर सृष्टि की दार्शनिक व्याख्या वैज्ञानिक व्याख्या की पथ–प्रदर्शिका बनती है। दोनों का एक ही लक्ष्य है–जीवन एवं जगत् में आनन्द एवं उर्जा का सहज संचार करना।

ईश्वरकृष्णकृत कारिकाओं में भी 15 वीं में प्रकृति एवं 17 वीं में पुरूष की सत्ता तथा 18 वीं पुरूष की अनेकता, हेतुओं के ही बल पर सिद्ध की गई है। सांख्यदर्शन[3] का प्रसिद्ध सत्यकार्यवाद भी 9 वीं कारिका में पाँच पृथक्–पृथक् हेतुओं के आधार पर ही सिद्ध किया गया है। प्रसिद्ध भाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने भी अपने सांख्य प्रवचनसूत्र भाष्य के अवतरणिका श्लोक में यही बात इस प्रकार कही है– ''एकोऽद्वितीयः'' इत्यादि वचन पुरूष विषयक वेद वचन जीव का सारा अभिमान दूर करके उसे मुक्त कराने के लिए सभी प्रकार के वैधर्म्य रूप भेद से रहित बताते हैं; न कि उसकी अखण्डता का प्रतिपादन करते हैं, उन्हीं वेदवचनों के अर्थ के मनन के लिए अपेक्षित सद् युक्तियों का उपदेश करने के लिए सांख्यकर्ता नारायणावतार भगवान् कपिल आविर्भूत हुए थे। ''अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो घूमादिभिरिव बह्वी''।।[4] सां0 सू0 1/60 के भाष्य 1 में भी उन्होंने यही बात कही है।

परम्परागत मान्यता के अनुसार सांख्य के प्रथम आचार्य महामुनि कपिल माने जाते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से कपिल के नाम का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वतरोपनिषद् के 'ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्ति जायमानं च परयेत' (5/2)[5] मंत्र में हुआ मिलता है। भगवद्गीता में श्री कृष्ण स्वयं को

'सिद्धानां कपिलो मुनिः'[6] अर्थात् सिद्धों में कपिल मुनि बताते है। श्रीमद्भागवत् (3/24) के अनुसार कपिल के पिता का नाम कर्दम और माता का नाम देवहूति था। माठरवृत्ति में भी इसका उल्लेख है–'कर्दमस्य पुत्रः स्वायम्भुवस्य मनोर्दुहितोरि देवहूत्यां कपिलो नाम वभूव।' इस प्रकार प्राचीन भारतीय परम्परा कपिल को 'सांख्य दर्शन' का आदि प्रवर्तक मानती है किन्तु उन्होंने किसी ग्रन्थ की रचना की थी, इसके संबंध में सांख्य दर्शन के विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान् 'षष्टितन्त्र' को कपिल की रचना मानते हैं। किन्तु यह प्रसिद्ध ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है।

ईश्वरकृष्ण कपिल द्वारा प्रतिपादित तथा आसुरी, पंचशिख आदि आचार्यो द्वारा संवर्द्धित एवं पल्लवित सांख्यीय विचारधारा के अनुयायी थे। बौद्धभिक्षु परमार्थ (छठीं शताब्दी) ने इनकी कृति सांख्यकारिका का चीनी भाषा में अनुवाद किया था और उसकी टीका भी लिखी थी। अतः चीनी भाषा में अनुवाद किया था और उसकी टीका भी लिखी थी। अतः उन्हें छठीं शताब्दी से पूर्व विद्यमान होना चाहिए। उनका समय प्रायः कुषाणकाल अर्थात् ईसवी प्रथम शतक माना जाता है। डॉ0 सुरेन्द्रनाथ दासुगुप्त ने सांख्यकारिका का समय 200 ई0 माना है।

सांख्य–दर्शन के मूल ग्रंथों में सांख्यकारिका, तत्त्वसमाज एवं सांख्यप्रवचनसूत्र तीन ही हैं। ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' सांख्य दर्शन का प्रमुख ग्रन्थ है। विभिन्न विद्वानों के द्वारा बहुत पहले से ही 'सांख्यकारिका' की व्याख्यायें प्रस्तुत की जा रही हैं। अतः स्पष्ट है कि सांख्य दर्शन के आज उपलब्ध होनेवाले उक्त तीनों ग्रन्थों में सांख्यकारिका, प्राचीनतम है। शंकराचार्य आदि दार्शनिकों ने

इसी को आधार बनाकर सांख्य दर्शन के सिद्धांतों का खण्डन किया।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में कारणता सिद्धान्त तत्त्वमीमांसीय स्थापनाओं के साथ ही साथ विवेचित होता रहा है। इस सिद्धान्त की प्राचीनता वैदिक साहित्य से अद्यावत दृष्टिगत होती है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (10/129) में स्पष्ट बताया गया है कि सृष्टि के आदि में न सत् था न असत्। साथ ही यदि हम यह कल्पना करें कि दर्शनों के विकास काल में असत्कार्यवाद और सत्कार्यवाद, विवर्तवाद, स्वभाववाद आदि वादों की मान्यता प्रकट हो रही थी तो कोई गलती न होगी। कुछ वेदों की ऋचाओं में इन वादों की स्पष्ट झलक दिखायी देती है। ऋग्वेद (10/3/11, 10/72/2, 10/190/1) पुरूष सूक्त में (10/90/2) पुरूष को आदि कारण हिरण्यगर्भ, एक और अज (10/8/13) जिसने सृष्टि की, ऐसा बताया जाता है। अथर्ववेद (19/54) में काल को आदि कारण बताया गया है। यही बात श्वेताश्वतर उपनिषद् में कही गयी है। वहाँ और भी कारण नियति, स्वभाव, इच्छा, पुरूष आदि की जगह ईश्वर को कारण बताया गया है। ऋग्वेद (10/72/2) में असत् कार्य का उल्लेख है। सांख्यकारिका के प्रायः सभी टीकाकारों ने उपर्युक्त कारणों का उदाहरण पुरस्सर खण्डन किया है जिसका उल्लेख हम इस अध्याय में करेंगे।

वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में सर्वप्रथम कारणता सम्बन्धी अन्य मतवादों का उल्लेख एवं खण्डन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार–''कार्यात् कारणमात्रं गम्यते'' अर्थात् किसी कार्य को देखने से इतना ही ज्ञात होता है कि अवश्य ही उसका कोई कारण (उपादान) है। वाचस्पति मिश्र के इस कथन

से यदृच्छावाद का खण्डन होता है क्योंकि यदृच्छावाद या आकस्मिकवाद तो साफ तौर पर कारणता का विरोध करता है। इस वाद के अनुसार सारे परिवर्तन काकतालीय न्याय से होते हैं। वहाँ कारण–कार्य सम्बन्ध ढूँढ़ना खरगोश के सींग ढूँढ़ने के समान निष्फल प्रयास है। यदृच्छावाद एक तरह से कारण–कार्य का निराकरण है, क्योंकि उसके अनुसार कारण कार्य में कोई नियत तत्त्व नहीं है और न कोई इसका नियामक ही है। यदि दर्शन का सम्बन्ध मनुष्य जीवन या व्यवहार से है तो इन आजीवकों के सिद्धातों को कहाँ तक दार्शनिक कहा जा सकता है, यह विचारणीय है। अस्तु, तत्त्वकौमुदीकार का स्पष्ट मत है कि सत्यकार्यवाद की स्थापना से कारणता सिद्धान्त को अंगीकार न करने वाले इन यदृच्छावादियों का खण्डन करना ईश्वरकृष्ण का प्रथम प्रयास है।

पुनः वाचस्पति मिश्र का कहना है कि यदि मान लिया जाय कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है तो इस विषय में आचार्यों में विप्रतिपत्ति स्पष्ट दिखाई देती है–''सन्ति चात्र वादिनां विप्रतिपत्तयः।'' जैसे–कुछ लोग (वैनाशिक बौद्ध) कहते हैं – असत् (अविद्यमान्) कारण से सत् (विद्यमान) कार्य (वस्तु) उत्पन्न होती है। दूसरे लोग (अद्वैतवादी) कहते हैं कि सभी कार्य एक ही सत् वस्तु (ब्रह्म) का विवर्त (अतात्त्विक परिणाम है; कार्यभूत वस्तु वस्तुतः सत् पदार्थ नहीं है। कुछ अन्य लोग (वैशेषिक) कहते हैं कि सत् कारण (अर्थात् परमाणु) से असत् (उत्पत्ति के पूर्व अविद्यमान) उत्पन्न होता है। अन्त में वाचस्पति मिश्र ने 9वीं कारिका के पूर्वपीठीका में प्राचीन दार्शनिकों के कारणता सम्बन्धी मतों का उल्लेख करते हुए कहा है कि ''सतः सज् जायते इति वृद्धाः'' अर्थात् सत् कारण से सत् कार्य उत्पन्न होता है। यद्यपि इससे

स्पष्ट नहीं है कि यह मत किस दार्शनिक सम्प्रदाय का है किन्तु सिद्धान्तः यह मत प्राचीन सांख्याचार्यों का प्रतीत होता है। वैसे विशिष्टाद्वैत के प्रतिपादक श्री रामानुजाचार्य भी सत्यकार्यवादी हैं, सम्भव है कि वाचस्पति मिश्र ने उनके मत का ही संकेत किया हो किन्तु संदर्भ एवं अवसर को देखकर प्राचीन सांख्याचार्यों का मत कहना अधिक तर्कसंगत एवं युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

सांख्यमत में कार्य को कारण से अभिन्न माना गया है। यहाँ उत्पत्ति का अर्थ आविर्भाव और विनाश का अर्थ तिरोभाव है। एक ही वस्तु की अव्यक्तावस्था को कारण और व्यक्तावस्था को कार्य कहा गया है। पटरूप कार्य अपने कारण (तंतुओं) से भिन्न नहीं है। तन्तुओं के सन्निवेशविशेषमात्र को पट कहा जाता है। जो कुछ छिपा हुआ है, उसके प्रकाश में आ जाने का नाम ही विकास है, यह संभाव्य सत्ता के रूप में संक्रमण है, गुप्तावस्था से प्रकट रूप में आना है। अतः कारण और कार्य उसी वस्तु की अविकसित एवं विकसित अवस्थाएँ हैं। उपादान कारण और कार्य का मौलिक रूप (तत्त्वतः) एक ही है किन्तु क्रियात्मक रूप में वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। विश्वात्मक सत्त्व, रजस् एवं तमस् के दो स्वरूप हैं। प्रथम, विशेष-अविशेष से रहित, सन्मात्रस्वरूप से युक्त परिणामरूप व्यापार से विरत, अत्यन्त अविभाग को प्राप्त सूक्ष्मशक्तियाँ हैं जिन्हें अव्यक्त कहा गया है। दूसरा, उन शक्तियों के अधिकार सामर्थ्य से प्रकट हो गया है परिणाम व्यापार जिनमें ऐसे सन्मात्रलक्षण से क्रमशः प्रचय (विस्तार) को प्राप्त हुए सत्त्व, रजस् और तमस् का सन्निवेशविशेषमात्र व्यक्त हैं। इस सूक्ष्मशक्ति (अव्यक्त) और व्यक्त की कल्पना के आधार पर तन्तु आदि के कार्यभूत पटादि भी सन्निवेश-विशेषमात्र ही होंगे। अतएव असत् की

उत्पत्ति अनुपपन्न ही होगी। इसी प्रकार सांख्यकारिका के अन्य टीकाकारों का भी मानना है कि ईश्वरकृष्ण ने सिद्धान्त पक्ष (सांख्य पक्ष) के प्रतिपादनार्थ एवं विरोधी मतों के निराकरणार्थ पाँच युक्तियों को निम्न कारिका में अभिव्यक्त किया है–

''असद्करणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम।।''

अर्थात् कारण–व्यापार के पूर्व भी कार्य विद्यमान रहता है, क्योंकि–1. असत् (अविद्यमान) होने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। 2. कार्य की उत्पत्ति के लिए उपादान कारण के साथ कार्य का नियत सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है; 3. सभी कार्य सभी उपादानों से उत्पन्न नहीं होते; 4. शक्त (कार्यानुकूल शक्तिमान्) कारण ही शक्य (उत्पन्नयोग्य) कार्य को उत्पन्न करता है; और 5. कार्य–कारण से अभिन्न होता है। इन युक्तियों की व्याख्या सांख्यतत्त्वकौमुदी के आलोक में करना आवश्यक है।

1. **असद्करणात्**–अर्थात् यदि कारण व्यापार के पूर्व कार्य असत् (अविद्यमान) होता तो उस कार्य को कोई भी सत् (विद्यमान्) नहीं बना सकता। वाचस्पति मिश्र का तर्क है कि नीले रंग को हजारों शिल्पी पीला नहीं कर सकते हैं। यदि यह कहा जाय (नैयायिक के द्वारा) कि एक ही घट (कारण व्यापार के पूर्व) 'असत्' और (कारण व्यापार के बाद) 'सत्' हो सकता है (अर्थात् सत्ता और असत्ता दोनों ही घट के धर्म हैं) तो ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि (उत्पत्ति से पूर्व) धर्मी घट के अविद्यमान रहने पर असत्त्व रूप धर्म उसमें (आधेयरूप से) कैसे रह सकता है?
2. **उपादानग्रहणात्**–'उपादानग्रहण' पद का विश्लेषण करते हुए वाचस्पति मिश्र का कहना है कि 'उपादान' का अर्थ है–कारण

(समवायिकारण) और ग्रहण का अर्थ है–कार्य के साथ उसका सम्बन्ध; इस प्रकार 'उपादान ग्रहण' पद का अर्थ है–कार्य के साथ कारण का सम्बन्ध। इस विषय में यह कहा जाता है कि कार्य के साथ नियत संबंधयुक्त कारण ही कार्य को उत्पन्न करता है (सांख्यदृष्टि में कहना होगा–संस्थानविशेष का अभिव्यंजक होता है); यदि कार्य असत् है, तो कारण के साथ उसका कोई सम्बन्ध होना असंभव है। इसलिए कारण–व्यापार से पूर्व भी कार्य सत् होगा।

3. सर्वसम्भवाभावात्– अर्थात् सभी कार्यों की उत्पत्ति सभी कारणों से न होने के कारण भी सत्यकार्यवाद सिद्ध है। वाचस्पति मिश्र का कहना है कि कारण से असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति मान लेने पर 'असम्बद्धता' के सर्वत्र समान रूप से प्राप्त होने के कारण सभी कार्य सभी कारणों से उत्पन्न होने लगेंगे; पर ऐसा नहीं होता है। अतः यह मानना पड़ता है कि असम्बद्ध कार्य असम्बद्ध कारण से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि सम्बद्ध कार्य ही सम्बद्ध कारण से उत्पन्न होता है।
4. **शक्तस्यशक्यकरणात्** – वाचस्पति मिश्र का कहना है कि असम्बद्ध होकर भी कोई कारण उसी कार्य को उत्पन्न कर सकता है जिस कारण में संबंधित कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति हो (सभी कार्यों को भले ही वह उत्पन्न न करे); कारण में ऐसी कोई शक्ति है– यह कार्य को देखकर अनुमित होता है अर्थात् मृत्तिका से घट की उत्पत्ति देखकर यह अनुमित होता है कि घटानुकूल शक्ति–मिट्टी में है, तंतु में यह शक्ति नहीं है। अतः कोई अव्यवस्था नही होगी। शक्ति फल से अनुमेय होती है, अतः जिस कारण से जिस कार्य की उत्पत्ति नहीं देखी जाती उस कार्य के जनन में उस कारण की शक्ति नहीं है– ऐसा कहा जायेगा, अतः कोई अव्यवस्था नहीं होगी।

उक्त समस्या के समाधान में सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र का कहना है कि ''जो कारण जिस कार्य की उत्पत्ति में कार्यजननानुकूलशक्ति से युक्त है, उस शक्त कारण से उसी शक्य (अर्थात् उत्पाद्य कार्य) के उत्पन्न होने से कारण और कार्य परस्पर असंबद्ध नहीं हो सकते और असम्बद्ध न होने पर कार्य का सत् होना अनिवार्य है।''

5. **कारणभावाच्च** – अर्थात् कार्य कारण से अभिन्न होता है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में कारण से कार्य अभिन्न (अभेद) सिद्ध करने के लिए कई तर्क प्रस्तुत किये है। वाचस्पति मिश्र का कहना है कि कार्य और कारण में अभेद सिद्ध करने वाले उपर्युक्त हेतु अवीत अर्थात् व्यतिरेकव्याप्तिमूलक हैं, इसके अतिरिक्त जितने दृष्टान्त दिये गये हैं वे सब अवीत अनुमान के व्यतिरेक दृष्टांत हैं। इस प्रकार अभेद सिद्ध होने पर यह भी सिद्ध हो जाता है कि तंतु ही अवयव–सन्निवेश के द्वारा वस्त्र हो जाते हैं; तन्तु से भिन्न वस्त्र नामक कोई पदार्थ नहीं है।

ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में 'कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी कारण में विद्यमान है, इस संदर्भ में माठरवृत्ति, युक्तिदीपिका के समान ही सांख्यतत्त्वकौमुदीकार ने भी सांख्यकारिका की मान्यता को तत्त्वतः स्वीकार किया है। किन्तु विचारणीय यह है कि जब सांख्य दर्शन उत्पत्ति का अर्थ 'आविर्भाव' एवं विनाश का अर्थ 'तिरोभाव' स्वीकार करता है तो सत्कार्यवाद के अनुसार–कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व ही नहीं अपितु सदैव विद्यमान होगा। वस्तुतः यही मूल सांख्यीय मत माना जा सकता है। तत्त्वमीमांसीय समस्याओं के निराकरण की दृष्टि से विचार किया जाय तो भी सांख्य के

कारणता सम्बन्धी इस अवधारणा का केन्द्रीय अर्थ यही प्रतिफलीत होता है।

निष्कर्षतः कारणतावाद के लिए दी गयी सभी युक्तियाँ सिद्ध करती हैं कि कार्य अपने उपादान कारण से भिन्न नहीं है। 'सत्कार्यम्' से ईश्वरकृष्ण सिर्फ इतना ही नहीं कहना चाहते कि 'उत्पत्ति के पूर्व भी कार्य अपने उपादान कारण में सत् है' बल्कि 'सत्कार्यम्' का तात्पर्य है कि कार्य अतीत–अनागत एवं वर्तमान तीनों कालों में सत् है।

संदर्भ–ग्रंथ सूची :

1. सांख्यकारिका–9 (तत्त्वप्रभा एवं युक्तिदीपिका सहित) बालकृष्णा त्रिपाठी, भदैनी, वाराणसी, 1970
2. सांख्यतत्त्वकौमुदी का0 9 : वाचस्पति मिश्र (सांख्यकारिका की टीका) अनुवादक– गंगाधर झा, पूना, 1965
3. सांख्यकारिका का0 9: ईश्वरकृष्ण सम्पादक एवं अनुवादक, एस0एस0 सूर्यनारायण शास्त्री, मद्रास विश्वविद्यालय, 1948.
4. माठरवृत्ति का0 1:आचार्य माठर, सांख्यकारिका टीका, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, 1922
5. सांख्यकारिका का0 72 : गौड़पाद्भष्य सति, अचार्या गौड़पाद, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1964
6. सांख्यचन्द्रिका का0 1 : सांख्यकारिका की टीका, नारायणतीर्थ, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1977